लिंग पुराण

लिंग पुराण

[प्रथम खण्ड]

(सरल भाषानुवाद सहित जनोपयोगी संस्करण)

卐

सम्पादक :
वेदमूर्ति, तपोनिष्ठ

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चारों वेद, १०८ उपनिषद, षट्दर्शन, २० स्मृतियाँ,
१८ पुराणों के प्रसिद्ध भाष्यकार और
लगभग १५० हिन्दी ग्रन्थों के
रचयिता।

卐

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली—२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ७४२४२

प्रकाशक :

डॉ० चमन लाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)

बरेली २४३००३ (उ० प्र०)

फोन : ७४२४२

❀

सम्पादक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

❀

संशोधित जनोपयोगी संस्करण

सन् १९८७

❀

मुद्रक :

शैलेन्द्र बी० माहेश्वरी

सरस्वती संस्थान

सेठ भीकचन्द मार्ग

मथुरा (उ० प्र०)

❀

मूल्य :

भूमिका

शैव पुराणों में "लिङ्ग पुराण" एक विशेष महत्व की रचना है। वैसे तो जन साधारण में 'शिव पुराण' का प्रचार अधिक है, क्योंकि वह प्रायः कथात्मक है और श्रोतागण उसे अपेक्षाकृत शीघ्र हृदयङ्गम कर लेते हैं। पर "लिङ्ग पुराण" में शैव सिद्धांतों का जैसा स्पष्ट विवेचन पाया जाता है वैसा अन्यत्र कम मिलता है। शिव के अव्यक्त ब्रह्म रूप को बतला कर उनसे ही समस्त विश्व के उद्‌भव का वर्णन इसमें बोधगम्य शैली में किया गया है। यही वर्णन अन्य समस्त पुराणों में भी थोड़े बहुत अन्तर से मिलता है, पर कई पुराणकारों ने उसकों इतना विस्तृत और जटिल बना दिया है कि समझने में कठिनाई का अनुभव होने लगता है। 'लिङ्ग पुराण' में उसे संक्षिप्त रूप में स्पष्टता के साथ व्यक्त किया गया है।

पुराण कर्त्ता ने प्रथम अध्याय में ही जो प्रस्तावना की है, उसमें शिव को 'शब्द-ब्रह्म' शरीर वाला कहा है। भारतीय वेदों, उपनिषदों तथा दर्शनों मे भी सृष्टि का आरम्भ 'शब्द-ब्रह्म' मे ही किया गया है। उस ब्रह्म का न कोई आकार है और न रूप है। इसलिए यदि कोई उसे स्थूल रूप में देखने और समझने की चेष्टा करता है तो सफल नहीं हो सकता। पर साथ ही यह भी निश्चय है कि उनके 'शब्द ब्रह्म वाले स्वरूप को थोड़े से उच्च कोटि के विद्वानों के अतिरिक्त अन्य कोई समझ भी नहीं सकता। सामान्य बुद्धि के लोगों के लिए उसे किसी न किसी स्थूल प्रतीक के रूप में प्रकट करना ही पड़ेगा। इसलिए शिव को मूलतः "शब्द ब्रह्म के तनु वाला" कहकर साथ में यह भी कह दिया है—

वर्णाविमव्यक्त लक्षणं वहुधा स्थितम् ।।

अर्थात् वे शिव भगवान् 'अव्यक्त' भी है और "अनेकों रूपों में प्रकट" भी हैं। संसार के अन्य सभी धर्मों ने भगवान को केवल एक ज्योति अथवा दिव्य-शक्ति के रूप में माना है, और कुछ उसे आकाश में स्थित सर्व शक्तिमान पुरुष के रूप में वर्णित करते हैं, पर भारतीय मनीषियों ने प्रत्येक स्थान पर भगवान् के तीन रूपों का वर्णन किया है व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्त, व्यक्त। 'लिंग पुराण' में इसी भाव को शिव की तीन मूर्तियों में बतलाया है---अलिंगी, लिंगी और लिंगालिंगी---

अलिंगं चैव लिंगं च लिंगालिंगानि मूतयः ॥

अर्थात् 'वे भगवान् अलिंग (चिह्न रहित) है, लिंग चिह्न अथवा रूप युक्त) भी हैं और इस प्रकार वे लिंगालिंगी (अव्यक्त और व्यक्त दोनों) हैं। ये तीनों ही भाव मूर्तियाँ भगवान् शिव की हैं।"

यद्यपि भगवत्-शक्ति की यह कल्पना बहुत सूक्ष्म और परिश्रम साध्य है, पर आज यही आधुनिक विज्ञान की खोजों के सामने यथार्थ सिद्ध हो रही है। ईसाई धर्म के ईश्वर का स्वरूप तो, जिसे मानवाकार बतलाया गया था और कहा गया था कि आज से छः-सात हजार वर्ष पहले उसने "आदम और हव्वा" को बनाकर सृष्टि रचना का श्रीगणेश किया, अब योरोप, अमेरिका के देशों में 'बच्चों की कहानियों' की तरह माना जाता हैं। पर पुराणों में सृष्टि का क्रम-विकास का हिसाब, विज्ञान की तरह अरबों खरबों वर्ष का ही लगाया जाता है। लिंग पुराण के "कालमान और ब्रह्मांड" निरूपण अध्याय में युगों, मन्वतर और कल्पों का हिसाब बताते हुए कल्प का परिमाण इस प्रकार कहा— है।

कोटीनां द्वे सहस्रे तु अष्टौ कोटि शतानि च।
द्विषष्टिश्चतथा कोट्यो नियुतानि च सप्ततिः ॥
कल्पार्ध संख्या दिव्या वैकल्प मेवं तु कल्पयेत्।
कल्पानां वै सहस्रं तु वर्षमेकमजस्य तु ॥

'दिव्य कल्पार्ध का परिमाण दो हजार आठ सौ बासठ करोड़ सात लाख वर्ष होता है। कल्प इससे दुगुना होता है और ब्रह्मा के एक वर्ष में ऐसे एक हजार कल्प होते हैं।'

ये संख्याएँ निस्सन्देह मानव-मस्तिष्क को लड़खड़ा देने वाली है। कहाँ तो योरोप अमरीका के विद्वान् भी चार-पाँच सौ वर्ष पहले पृथ्वी को पाँच छः हजार वर्ष पुरानी मानते थे और आज भी उसे अधिक से अधिक दो अरब वर्ष पुरानी जान सके है और कहाँ हमारे पुराणकार ईसा के जन्म के समय ही 'पृथ्वी के इतिहास की गणना खरबों वर्षों में कर रहे थे। पर इनमें अविश्वास की कोई बात नहीं। प्रत्येक ज्ञानी व्यक्ति इस बात को समझता और स्वकार करता है कि देश तथा काल अनन्त है। यह पृथ्वी, इसी के समान अन्य लाखों पृथ्वियाँ और सूर्य भी समय-समय पर बनते बिगड़ते रहते है। सृष्टि और प्रलय का क्रम निरन्तर चलता रहता है। अगर हम अपने दिमाग में 'अनन्त' की कल्पना कर सकते हो तो उसकी तुलना में अरब और खरब की संख्याएँ भी बिल्कुल छोटी हैं।

इसीलिए पुराणों में काष्ठा तथा पत्र से लेकर कल्प तक का हिसाब बतलाकर मनुष्यों की बुद्धि में यह तथ्य बैठाने की चेष्टा की गई है कि भगवान की इस रचना का कभी अन्त नहीं होता। अरब, खरब और उससे भी अधिक पद्म और शङ्ख तक की संख्या व्यतीत हो जाने पर भी वह कायम रहती है। हाँ उसका रूप सदैव बदलता रहता है। अगर समस्त विश्व की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रत्येक क्षण इनमें बड़े-बड़े परिवर्तन होते रहते है। वैज्ञानिकों का दो अरब का हिसाब तो तब से चलता है जब कि पृथ्वी सूर्य से पृथक होकर एक जलते हुए पिंड के रूप में आई। पर पुराणों का हिसाब उस समय से चलता है जब सूर्य भी न था और मूल प्रकृति में से महत्-तत्व का आविर्भाव होने लगा था।

यह सच है कि पुराणकारों ने कई तरह के हिसाबों को मिला जुला दिया है और अचैतन्य और स्थावर पदार्थों का वर्णन भी वर्तमान प्राणधारी जीवों के समान ही किया है। कारण यह कि अशिक्षित तथा अल्प विकसित बुद्धि वाला जन-समुदाय भी इसको थोड़ा बहुत समझ सकें। अन्यथा यदि हम उस वर्णन में काम लाए गए अलङ्कारिक शब्दों के वास्तविक अर्थों पर विचार करें तो मालुम पड़ जाता है कि यह वर्णन उस समय का है जब मनुष्य क्या पेड़ और पौधे भी उत्पन्न नहीं हुए थे। 'लिंग पुराण' में इस दृष्टि विज्ञान पर बहुत अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है, जिससे विदित हो जाता है कि संसार में हमको जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, मनुष्यों में धर्म, जाति, सम्प्रदाय, समुदाय, वर्ग, गोत्र आदि का जितना भी भेद प्रतीत होता है, वह सब हमारा ही कल्पित है अन्यथा अगर 'मूल दृष्टि' से विचार किया जाय तो मनुष्य मात्र ही नही प्राणी मात्र उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार एक मुट्ठी भर रेत के समस्त कणों में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। अथवा एक घड़ा जल में से प्रत्येक बूँद तत्व की निगाह से एक सी ही होती है।

खेद की बात है कि अपन को पक्के 'धर्मात्म' और सच्चे 'सनातनी' समझने वाले व्यक्ति पुराणों में केवल कथाओं और उपाख्यानों पर ही ध्यान देते है, पर उनमें वर्णित सृष्टि-विज्ञान· तत्त्व-विभाग, प्राणियों का विकास मानवीय शक्तियों की क्रमश: वृद्धि आदि को समझने की चेष्टा कभी नहीं करते। यदि वे ऐसा करते तो विरोधियों द्वारा 'मिथ्या कल्पना' बनाए जाने वाले इन पुराणों से ही वह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता था, जिससे इस जगत् और मानव-जीवन का यथार्थ स्वरूप सहज में ज्ञात हो जाता। धर्म और अध्यातम का वास्तविक सार यही है कि मनुष्य संकीर्ण दृष्टि को त्यागकर प्राणी मात्र से आत्मीय भाव अनुभव करे। भारतीय

मनीषियों ने इसी तथ्य को समझाने के लिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः स पण्डितः' की उक्ति को उद्घोषित किया है।

पञ्चतत्वों का महान् सिद्धांत–

इस जगत् में जितने बड़े से बड़े और छोटे से छोटे पदार्थ देखने में आते हैं वे सब पञ्च-भूतों के खेल हैं। वेद तुल्य समझे जाने वाले संस्कृत ग्रन्थों से लेकर तुलसी रामायण तक में 'छिति जल, पावक, गगन, समीरा' कहकर इन पाँचों तत्त्वों को ही मानव जीवन का आधार बताया गया है। इसका विवेचन करते हुए 'लिङ्ग पुराण में कहा है—

"अहङ्कार से शब्द तन्मात्र और उससे अव्यय आकाश हुआ। आकाश से स्पर्श तन्मात्र और उससे वायु हुआ। वायु से रूप तन्मात्र और उससे अग्नि तत्त्व हुआ। अग्नि से रस तन्मात्र और उससे जल हुआ। जल से गन्ध तन्मात्र और उससे धरा हुई।"

यह पाँच तत्त्व का सिद्धांत भारतीय मनीषियों को हजारों वर्ष पूर्व ज्ञात था और उन्होंने इसका विस्तार पूर्वक विवेचन किया था। पर आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपने ढङ्ग से खोज करके तत्वों की संख्या १०० के ऊपर पहुँचा दी। इस पर अनेकों विदेशी लेखक भारतीय-शास्त्रों के पाँच तत्व वाले सिद्धांत की हँसी उड़ाने लगे। पर उनका विज्ञान तो हर रोज बदलने वाला है। इसलिए पिछले चालीस-पचास वर्षों में जैसे-जैसे अणु-सिद्धांत का ज्ञान बढ़ाया गया, वैसे ही १०० तत्व वाले सिद्धांत का खोखलापन प्रकट होता गया। एक भारतीय लेखक ने पाँच तत्त्वों के सिद्धांत की पुष्टि करते हुए लिखा है—

"भारतीय शास्त्रों में केवल पाँच तत्त्वों का ही वर्णन है और उनमें से एक तत्व जल है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों के आधार पर कहा कि जल तो कोई मौलिक तत्व नहीं है। यह तो दो

प्रकार की वायु रूपी गैसों अर्थात् 'हाईड्रोजन' और 'ऑक्सीजन' के मिलने से बनता है। इसलिए जल एक मिश्रित पदार्थ है और इसको 'तत्व' कहना भूल है। जल तत्व के असली तात्पर्य को तो उन्होंने समझा नहीं और चूँकि साधारण जल दो भिन्न-भिन्न तत्वों से बना है, इसलिए वे इस बात को लेकर ही अड़ गए कि प्राचीन लोग कितने बेवकूफ थे कि उन्होंने जल को तत्व घोषित कर दिया। इस मनोवृत्ति के कारण उनको अपने अन्वेषण और प्राकृतिक ज्ञान पर गर्व भी होने लगा कि प्राचीन प्रणाली में तो लोग केवल पाँच ही तत्वों को जानते थे-पर हमने तो १०२ तत्वों का पता लगा लिया। पर हम बताएँगे कि इस मनोभाव में कितनी भारी भूल भरी है। हम यह भी सिद्ध करेंगे कि पाँच तत्वों द्वारा प्राचीन ऋषि गण प्राकृतिक रहस्यों में कितना गहराई तक पहुँच गए थे और १०२ तत्वों को जानते हुए भी आज के वैज्ञानिक किस प्रकार प्राकृतिक ज्ञान सागर के एक किनारे पर ही सतह पर हिलोरे खा रहे हैं।"

"वास्तव में तत्व पाँच ही हैं-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इनमें से प्रत्येक तत्व का एक विशेष गुण होता है जिसे 'तन्मात्रा' कहते हैं। ऋषियों के सिद्धांतानुसार पहले पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं की सृष्टि हुई, जिन्हें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कहते हैं। फिर इन तन्मात्राओं के अनुकूल पाँच स्थूल, तत्वों की सृष्टि हुई। इसलिए साधारणतः इन तन्मात्राओं अथवा 'महाभूतों' का तत्वों के गुणों के रूप में वर्णन किया जाता है, पर इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय सृष्टि विज्ञान के अनुसार पहले सूक्ष्म तन्मात्राओं का आविर्भाव होकर बाद में स्थूल तत्वों की रचना हुई। सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति हुई उसके बाद आकाश से वायु, वायु से अग्नि अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पत्ति हुई। इससे समझा जा सकता है कि एक समय ऐसा था जब पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का अस्तित्व न था केवल आकाश ही आकाश था। इसी प्रकार पृथ्वी तत्व की सृष्टि के पहिले सब कुछ जलमय ही

होगा, हाँ उसके ऊपर वाले तत्व अर्थात् अग्नि, वायु और आकाश भी वर्तमान होंगे, पर पृथ्वी तत्व न होगा।

इस प्रकार हमारे शास्त्र वैज्ञानिकों से आगे बढ़कर कहते हैं कि पाँच तत्वों से अभिप्राय दृष्टिगोचर विभिन्न प्रकार के पदार्थों से नहीं है, वरन् उनकी मूल अवस्था से हैं। पृथ्वी-तत्व से मतलब रङ्ग-बिरङ्गी मिट्टी से नहीं बल्कि पदार्थों की ठोस अवस्था से हैं। वैसे ही आपस् अथवा जल तत्व से अभिप्राय पानी से नहीं, बल्कि पदार्थों की तरल अवस्था से है। यही बात अग्नि और वायु के सम्बन्ध में समझनी चाहिए आकाश के सम्बन्ध में तो, जो सबसे अधिक सूक्ष्म तत्व है, अभी वैज्ञानिक विशेष पता भी नहीं लगा सके है।

पर वैज्ञानिकों ने दूसरी शङ्का यह उठाई कि जिस प्रकार प्राचीन समय से पञ्चभूतों और उनके गुणों का वर्णन किया गया हैं उससे तरल और वायवीय पदार्थों में किसी प्रकार की गन्ध नहीं होनी चाहिए थी। पर हम तेजाब, मिट्टी का तेल आदि तरल पदार्थों में तथा 'क्लोरीन' 'एमोनिया' आदि गैसों में तीव्र गन्ध पाते हैं, इनका क्या कारण है? सामान्य दृष्टि से यह शङ्का उचित जान पड़ती है पर जब हम इस विषय में 'लिंग पुराण' के विवरण पर ध्यान देते हैं तो सहज में उसका निराकरण हो जाता है—

"स्पर्श मात्र आकाश को आवृत करता है और रूप मात्र को क्रियात्मक वायु वहन करता है। अग्नि-तत्व से रस तत्व को आवृत किया है। तथा सर्व रसात्मक जल गन्ध मात्र को आवृत किए हुए है। इस प्रकार यह भूमि पाँचों तत्वों के गुण अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुण वाली होती है। जल चार गुण वाला होता है, अग्नि तत्व में तीन गुण होते हैं, वायु में दो और आकाश केवल एक अर्थात् शब्द गुण वाला होता है।"

पञ्च तत्वों का भण्डार उतना ही नहीं जितना हमको दिखाई पड़ता है। उनकी अधिकता का वर्णन करते हुए पुराणकार कहते हैं—प्रत्येक विश्व या ब्रह्मांड के चारों ओर उससे दश गुना जल होता है जिससे वह आवृत रहता है। जल से दश गुना तेज होता है जिसने जल को आवृत्त कर रखा है। तेज से दश गुनी वायु और वायु से दश गुना आकाश है। जिन्होंने इस अण्ड को इसी क्रम से बाहिर से आवृत्त कर रखा है। ऐसे-ऐसे अण्ड करोड़ों-करोड़ों अयुत हैं। उन ब्रह्मांडों में से पृथक, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी होते हैं।"

आधुनिक वैज्ञानिकों ने जब से भीमकाय दूरबीनें, जिनमें से किसी-किसी का वजन १० हजार मन भी है, बनाकर अन्तरिक्ष का निरीक्षण करना आरम्भ किया है, तब से वे भी यही कह रहे हैं कि आकाश में सौर-लोकों और ब्रह्मांडो की कोई गिनती नहीं है। जितनी अधिक शक्ति शाली दूरबीनें बनती जाती है, उतने ही अधिक नए-नए सूर्य दिखाई पड़ते जाते है। इनमें से कितने ही तो इतने दूर हैं कि जो प्रकाश एक मिनट में लगभग एक करोड़ मील की गति से चलता है वह उन पिंडों तक पचास लाख वर्ष में नहीं पहुँच पाता। उनका यह कथन आकाश के अनन्त स्वरूप का कुछ अनुमान करा सकता है।

जो लोग सांप्रदायिक मतभेद के कारण एक दूसरे पर दोषारोपण किया करते है, उस मनोवृत्ति को त्यागकर अगर हम "लिङ्ग पुराण" में वर्णित शैव-सिद्धांत पर विचार करते हैं, तो हम कह सकते हैं उसके नियम और उपदेश सामान्य मनुष्यों के लिए कल्याणकारी ही हैं। उसमें धर्म के जिस स्वरूप को प्रतिपादित किया गया है, उसमें कोई जटिलता नहीं है वरन् वह प्रत्येक मनुष्य का सहज कर्तव्य ही हैं। उसमें यह प्रश्न उठा कि भगवान् शिव किस प्रकार के पुरुषों पर प्रसन्न हुआ करते हैं सत्पुरुषों के लक्षण इस प्रकार बतलाए हैं—

"जो अपने आप को संयम में रखने वाले, धर्म का ध्यान रखने वाले,

परम दया वाले, तपस्वी, सन्यासी, विरक्त, आत्मा को वश में रखने वाले ज्ञानी पुरुष होते हैं, उन्हीं पर भगवान् महेश्वर प्रसन्न होते हैं । जो दानी सत्य भाषण करने वाले निस्पृह और श्रुति तथा स्मृति के ज्ञाता होते है, और श्रौत तथा स्मार्त धर्मों में कोई विरोध उपस्थित नहीं करते, उन पर प्रभु शिव प्रसन्न रहा करते हैं । 'सत्' शब्द ब्रह्म का वाचक है, जो महापुरुष उसके अन्त तक पहुँच जाते हैं वे ही 'सन्त' कहे जाते हैं । दश इन्द्रियों द्वारा साध्य विषयों में आठ प्रकार के पहले बताए हुए ऐश्वर्यों में वे लोग कभी भी हर्ष और क्रोध नहीं किया करते हैं । इसी से वे 'जितात्मा' होते हैं । श्रुति और स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित धर्म का पूर्ण ज्ञान होने पर पुरुष धर्मज्ञ माना जाता है । विद्या की साधना करने वाला साधु होता है और गुरु का हित करने के कारण ब्रह्मचारी कहा जाता है । क्रियाओं के साधन करने से गृहस्थ भी 'साधु' बन जाता है । अरण्य में तप की साधना के कारण वैखानस (सन्यासी) भी 'साधु' कहा गया है । इसी प्रकार योग का साधन करने वाला यति 'साधू' कहा गया है । इस प्रकार अपने-अपने आश्रमों का साधन करने से ही सब 'साधु' कहे गए हैं, ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ और यति ये चार आश्रम होते हैं । ये आश्रमों के वाचक शब्द क्रियात्मक होते हैं, जिनसे उनके धर्म और अधर्म का भी ज्ञान हो जाता है । 'कुशल' अर्थात् कल्याणकारी कर्म को धर्म और अकुशल (अकल्याणकारी) कर्म को ही अधर्म समझना चाहिए ।"

"लिङ्ग पुराण" ने धर्म और अधर्म की जो व्याख्या की है वह बहुत स्पष्ट और बोधगम्य है । धर्म का निर्णय केवल किन्हीं साम्प्रदायिक विधि-विधानों या धर्म ग्रन्थों के आधार पर ही नहीं किया जा सकता । इस प्रकार के बहुत से विधान या धार्मिक नियम देश-काल के बदल जाने से अनुपयोगी अथवा हानिकारक भी हो जाते हैं । उदाहरण के लिए बाल-विवाह और पर्दा की प्रथा मुसलमानी शासन काल में

आततताइयों से बहु-बेटियों की रक्षा के लिए प्रचलित करनी पड़ी थी। यद्यपि वह हानिकारक ही थी तो भी समय की गति को देखकर उसे 'धर्म मान लिया गया। पर अब जब वह शासन समाप्त हो गया और उस तरह स्त्रियों को छीन लेना बन्द हो गया तो उसे प्रचलित रखना अनावश्यक ही नहीं अनुचित भी है, क्योंकि उससे समाज की प्रत्यक्ष रूप में हानि हो रही है। इसलिए धर्म वास्तव में उसी को कहा जा सकता है जो कल्याणकारी हो। अकल्याणकारी अथवा हानिकारक रीति रिवाजों को 'धर्म' के नाम से पुकारना भूल है।

इसी प्रकार उपर्युक्त उदाहरण में जो यह कहा गया है कि मनुष्य प्रत्येक अवस्था में साधु' बन सकता है, वह भी एक बड़ा महत्वपूर्ण उपदेश है। हमारे यहाँ के बहुत से लोग जिनकी रुचि सत्कर्मों की ओर नहीं है, प्राय: यह बहाना बनाया करते हैं कि हम तो विद्यार्थी है, लड़के हैं, अथवा हम तो गृहस्थ हैं बाल-बच्चों का निर्वाह बड़ी कठिनाई से कर पाते हैं अत: हम लोग परोपकार, परमार्थ के कार्यों के लिए समय और साधन कहाँ से पा सकते हैं? पर 'पुराणकार' का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी भी आश्रय में रहकर साधना करता हुआ, अपना कर्त्तव्य सचाई से पालन करता हुआ साधु' की पदवी का अधिकारी बन जाता है। जिसको सत्कर्मों की लगन होगी उसे ऐसे कार्यों के लिए समय और साधन अवश्य मिल जायेंगे। जिसने इस तथ्य को समझ लिया है कि बिना परोपकार की भावना के मनुष्य कदापि धार्मिक' कहलाने का अधिकारी हो ही नहीं सकता वह अवश्य उसके लिए साधना भी ढूँढ लेगा।

सच्चे ब्राह्मण की श्रेष्ठता—

राजा क्षुप और दधीचि ऋषि के विवाद के रूप में जो कथा कही गई है उससे सिद्ध होता है कि सच्चे ब्राह्मण का लक्षण सेवा-धर्म और परोपकार होता है और घास-फूस की कुटी में रहने वाला लोक-सेवा

ब्राह्मण बड़े-बड़े राजाओं और वैभवशालियों की अपेक्षा अधिक पूजनीय है राजा क्षुप को ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है और वह बड़ा वीर तथा वैभवशाली था। च्यवन ऋषि के पुत्र दधीचि के साथ उसकी बहुत अधिक मित्रता थी। एक बार किसी प्रसङ्गवश उनमें यह विवाद छिड़ गया कि क्षत्रिय और ब्राह्मण में से कौन अधिक श्रेष्ठ है। क्षुप के कथनानुसार राजा में आठों लोकपालों का अंश होता है इसलिए उसे इन्द्र, अग्नि, यम निऋति, वरुण, सोम और कुबेर के सदृश्य ही मानना चाहिए। विष्णु का अंश होने से ब्राह्माण को भी उसका सदैव सम्मान करना चाहिए। उधर दधीचि सच्चे ब्राह्मण की अपेक्षा किसी को बड़ा मानने को तैयार न था।

इन दोनों का विवाद इतना बढ़ गया उसने एक घोर संग्राम का रूप धारण कर लिया। क्षुप को भगवान् विष्णु की सहायता प्राप्त थी और दधीचि ने शिव से वज्रांग होने का वरदान प्राप्त कर लिया था। इसलिए इस संग्राम में विष्णु के सहित सभी देवताओं को पराभूत होना पड़ा। अन्त में राजा क्षुप ने अपनी न्यूनता स्वीकार करके दधीचि की स्तुति की और ब्राह्मण को ही सर्वश्रेष्ठ स्वींकार किया, तब शांति स्थापित हो सकी। उसके पश्चात् दधीचि ने कहा—

देवेश्च पूज्या राजेन्द्र नृपैश्च विवधैर्गणैः।
ब्राह्मणा एव राजेन्द्र बलिनः प्रभविष्णुवः॥
इत्युक्त्वा स्वोटजं विप्रः प्रविवेश महाक्षुतिः।
दधीचमभिवद्य व जगाम स्वं नृपः क्षयम्॥

अर्थात् "देवों के द्वारा, नृपों के द्वारा तथा अन्य सब व्यक्तियों के द्वारा ब्राह्मण सम्मान के योग्य और अधिक शक्तिशाली होता है। इतना कहकर वे महा तेजस्वीं मुनि अपनी कुटिया में प्रवेश कर गए और राजा उनकी वन्दना करके अपने नगर को चला गया"

इस प्रकार पुराणकार ने शिव और ब्राह्मण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। पर साथ ही संकेत रूप से यह भी बता दिया है कि क्षुप के पक्षपाती समस्त देवताओं के सहित विष्णु तक को भी हटाने वाला वह दधीचि ब्राह्मण गरीब लोगों की तरह एक बहुत साधरण कुटी में रहता था और राजा द्वारा पूजे जाने के पश्चात् भी वह उसी में रहा। उसमें जो कुछ तेज था, बल था, वह इसी त्याग और तपस्या का था। जिसको धन की इच्छा हो नहीं, और जिसने त्यागमय जीवन को ही आदर्श मानकर अपना रखा है वह बड़े पदवीधारी और वैभवशाली व्यक्तियों से क्यों दब सकता है? क्योंकि जितने धनवान् और बड़ी-बड़ी जमीन, जायदाद वाले व्यक्ति होंगे वे अवश्य ही अपने स्वार्थ के लिए प्रयत्नशील होंगे, अब कि सच्चा ब्राह्मण जिसने संसार के भोगों को स्वेच्छापूर्वक त्याग रखा है और अपना जीवन परोपकार के लिए अर्पण कर रखा है, परमार्थ का पथिक होगा। यदि स्वार्थी को परमार्थी से अधिक श्रेष्ठ मान लिया जाय तो यह सत्य और न्याय का विपर्यय-पतन ही माना जायेगा। दधीचि कितने अधिक परोपकारी थे यह इससे जाना जा सकता है कि देवताओं से इतना विरोध हो जाने पर भी जब देवराज इन्द्र को वृत्रासुर को मारने के लिए वज्र बनाने की आवश्यकता पड़ी तो उन्होंने अपनी हड्डियाँ भी उनको दे दीं। दधीचि का यह अस्ति-दान भारतीय धार्मिक साहित्य की एक अमर कथा है।

चारों युगों का सच्चा स्वरूप–

पुराणों में जगह-जगह सतयुग, त्रेता आदि के विषय में जो उपाख्यान कहे गए हैं, उनसे ऐसा प्रकट होता है कि उन युगों में सब प्रकार की कलाओं तथा ज्ञान की बहुत अधिक वृद्धि हो गई थी और लोग तरह-तरह की सुखप्रद और शोभाजनक वस्तुओं का व्यवहार करते थे। पर 'लिङ्ग पुराण' में दिए गए 'चारों युगों का लोक धर्म' अध्याय के

उन युगों की परिस्थिति का जो वर्णन मिलता है उससे विदित होता है कि उस युग के मनुष्य अथवा इतर प्राणी, जो उस समय रहे हों, वे कृत्रिम और खान-पान से सर्वथा परे थे। वे प्रकृति की गोद में पलते थे और जीवन के अन्तिम क्षण तक, वह जैसे भी रखे उसी तरह रहते थे। उस अध्याय का सारांश इस प्रकार है—

"सतयुग के प्राणी परम तृप्त थे और उनमें ऊँच-नीच का तनिक भी अन्तर नहीं था। उन सबकी आयु समान होती थी और रूप भी एक-सा ही था। उनको ठण्ड-गर्मी से कष्ट नहीं होता था वे प्राणी पर्वत और समुद्र में निवास करते थे, किसी का कोई घर या आश्रय स्थल नहीं होता था उनमें किसी प्रकार का शोक नहीं था और सत्व गुण की प्रधानता होती थी वे अधिकतर एकांत में रहने वाले थे। वे निष्काम कर्मशील थे। उनकी स्वर्ग और नरक के कारण स्वरूप कर्मों में प्रवृत्ति नहीं थी। इस समय वर्णाश्रम की कोई व्यवस्था नहीं थी और न कोई 'वर्णसङ्कर' होता था।"

यदि इस वर्णन का भली-भाँति विवेचना किया जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उस समय के प्राणी वर्तमान मनुष्यों से अधिकांश में भिन्न थे। जो बिना घर के रह सकें, जिनके कोई परिवार या बाल-बच्चे न हों, जो सर्दी गर्मी से प्रभावित न होते हों, जो पर्वतों के नीचे या समुद्र के किनारे ही दिन-रात और प्रत्येक मौसम में गुजर कर लेते हों उनको यदि मनुष्येतर प्राणी या आदिम-मानव कहा जाये जो इसमें कोई अनौचित्य नहीं समझा जा सकता। वास्तव में जिस समय प्राणी की आवश्यकताएँ अत्यन्त सीमित थीं और संख्या कम होने से प्राकृतिक-आहार के लिए किसी तरह का सङ्घर्ष नहीं करना पड़ता था, उसे यदि "कल्प-वृक्षों का युग" कहा जाये तो वह ठीक ही है।

त्रेता में यह स्थिति कुछ बदली और जनसंख्या बढ़ जाने से निर्वाह के साधनों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न और कुछ सङ्घर्ष भी

होने लगा। उस परिस्थिति का वर्णन करते हुए पुराणकार ने लिखा है—

'त्रेता नामक युग में काल-प्रभाव से आहार के लिए रस का मिलना बन्द हो जाता है। पर उस समय एक नई सिद्धि (साधन) उत्पन्न हो जाती है। उस समय जल मेघ का रूप धारण कर बरसने लगता है। उसके प्रभाव से पृथ्वी में ऐसे वृक्ष उत्पन्न हो गए, जिनसे प्राणियों के लिए निवास और आहार दोनों की व्यवस्था हो गई है। पर तब प्राणियों में आपा-धापी का भाव उत्पन्न होने लगा और कुछ समय पश्चात् वे वृक्ष नष्ट हो गए। फिर जब लोग राग-द्वेष त्यागकर उन वृक्षों का ध्यान करने लगे तो वे प्रादुर्भूत हो गए। उन वृक्षों से ही उस समय की प्रजा को आहार, वस्त्र, आभूषण सब कुछ मिल जाता था। उनके प्रत्येक 'पुटक' में गन्ध, वर्ण, रस-युक्त मधु उत्पन्न होता था, उसका उपभोग करके वे सब लोग बड़े सुखी और दीर्घायु होते थे।

"इस प्रकार जब बार-बार वे कल्पवृक्ष उत्पन्न हुए और फिर नष्ट हो गए, तो लोग अपने रहने के लिए अन्य प्रकार के साधन तलाश करने लगे। तब शारीरिक स्वास्थ्य में अन्तर पड़ जाने से वे गर्मी, वर्षा और जाड़े का कष्ट भी अनुभव करते। अतः वे बल्कल, चर्म आदि से अपनी देहको ढकने लगे और गुफाओं में रहने लगे। इसके पहले वे बिना आश्रय स्थल वाले स्वेच्छाचारी थे और चाहे जहाँ रहा करते थे। पर फिर वे यथा योग्य प्रेम-पूर्वक इन गुफाओं के घरों में रहने लगे। इस प्रकार उन्होंने वर्षा, धूप आदि से बचने को व्यवस्था कर ली, पर आहार के सम्बन्ध में बड़ी चिन्ता उपस्थित हो गई, क्योंकि मधु उत्पन्न करने वाले सब वृक्ष नष्ट हो गए थे।"

फिर त्रेता युग में एक नई सिद्धि उत्पन्न हुई। वर्षा के जल से नदी, नालों का प्रादुर्भाव होने लगा और उनका भूमि से सम्पर्क होने से बिना जोते बोए चौदह प्रकार की वनस्पतियों तथा फूलों से युक्त

झाड़ियाँ आदि उत्पन्न हुईं। तब लोग इन्हीं वनस्पतियों को खाकर निर्वाह करने लगे। जब वे राग और लोभ के कारण इन वनस्पतियों के भी मनमाने ढङ्ग से ग्रहण करने लग गये तब वे भी नष्ट हो गईं। इसके पश्चात् हल चला कर तथा पृथ्वी में जल निकाल कर खाद्य-पदार्थ उत्पन्न कर सकने का ज्ञान लोगों को हुआ, और उसी से वे जीवन धारण करने लगे। इस तरह लोगों के पास जब अधिक सामग्री संग्रह होने लगी तो अनेक लोग बलपूर्वक दूसरों के पदार्थों, स्त्री, पुत्र आदि का अपहरण करने लगे। जब विभु ने यह दशा देखी तो लोकरक्षार्थ क्षत्रिय वर्ण प्रादुर्भाव किया। ब्रह्माजी ने उस समय समाज की व्यवस्था के लिए वर्णों और आश्रमों की प्रतिष्ठा की। त्रेता में ही यज्ञों का क्रम चला। उस समय पशु-यज्ञ नहीं किया जाता था, तब ऋषिगण अहिंसक यज्ञ की ही प्रशंसा किया करते थे। द्वापर में लोगों में विचार भिन्नता बहुत बढ़ गई, पर भाषा की त्रुटियों से उनको भाव प्रकाशन में बड़ी कठिनाई होती थी। द्वापर में ही लोगों में तरह तरह के रोग, नौकरी और व्यवहार सम्बन्धी झगड़े, अभियोग आदि की वृद्धि होने लगी, वर्ण-संकरता उत्पन्न हुई और जो वेद त्रेता में एक था उसको चारों भागों में बाँटा गया।"

पाठक देख सकते हैं कि 'लिंग पुराण' में मानव-जाति और समाज के विकास का कैसा बुद्धि-संगत वर्णन किया गया है, जो लोग प्राचीन ग्रन्थकारों पर सदा 'गप-शप' लिखने का ही आरोप लगाया करते हैं, उनमें स्वयं ही खोज करने की प्रवृत्ति और निष्पक्ष भाव से वास्तविकता तथा कवि कल्पना को पृथक कर सकने की योग्यता का अभाव होता है। तब वर्तमान काल का कोई कवि रामचन्द्रजी के ब्याह और बरात का वर्णन करेगा तो वह उसमें वैसी ही सजावट और शोभा का वर्णन करेगा जैसी आजकल बड़े राजाओं की बरात में दिखाई पड़ती है। पर 'लिंग पुराण' के वर्णन से प्रकट होता है कि उस समय लोग खेती करने ही लगे थे और वस्त्रों तथा बर्तनों आदि का अस्तित्व

भी न था। पर कवियों ने उनका वर्णन वर्तमान काल के अनुरूप ही किया है जिससे पाठक स्वाभाविक रूप से उनको पढ़ सकें और उनसे अनुकरणीय शिक्षाएं ग्रहण कर सकें। पर विद्वानों की जानकारी के लिए वे बीच-बीच में यह संकेत भी कर देते हैं कि कथाएं सत्य और कल्पना का मिश्रण है। वर्तमान समय में ऐसी कथाओं के सर्वश्रेष्ठ रचयिता गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने जगत् प्रसिद्ध "रामचरित मानस" के आरम्भ में ही स्पष्ट लिख दिया है—

नाना भाँति राम अवतारा।
रामायण सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए।
भाँति अनेक मुनीसिन्ह गाए॥
प्रति अवतार कथा प्रभु केरी।
सुन मुनि वरनी कविन्ह घनेरी॥

प्रत्येक युग और कल्प में जब जैसी परिस्थिति होती है भगवान उसी रूप में अविर्भाव होता है। मनीषी लोग इनका वर्णन संक्षेप में बतला देते हैं और कविगण उसमें कल्पना और अलंकृत भाषा का संयोग करके लोकरंजिणी कथा प्रस्तुत कर देते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो सामान्य पाठक उसे न तो रुचि पूर्वक पढ़ सकेंगे और न उससे कोई उपयोगी शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे। पर लिंग पुराणान्तर्गत 'विभिन्न युगों में लोक धर्म, विषयक वर्णन से हम जान सकते हैं कि सभ्यता, संस्कृति समाज, सङ्गठन और रीति-रिवाजों का उद्भव और प्रचलन काल की परिस्थितियों के अनुसार क्रम से ही हुआ है, उसमें चमत्कार जैसी कोई बात नहीं हुई।

सूर्य का स्वरूप और महत्व—

प्राचीन काल में जब दूरबीन के सदृश्य कोई यन्त्र मनुष्यों के पास न था और यात्रा सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण पृथ्वी के आकार

और विस्तार की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती थी, उस समय भूगोल और खगोल सम्बन्ध में जो कुछ लिखा जाता था वह अनुमान के आधार पर ही होता है, जिसमें बहुत सी भूलें रह जाती थी। योरोप के विद्वान् पाँच, सात सौ वर्ष पहिले मिश्र देश (ईजिप्ट) के पास समुद्र का अन्त मानते थे और जिब्रल्टर (स्पेन) को 'पृथ्वी का अन्तिम छोर' कहते थे। जब कोलम्बस ने अटलाँटिक महासागर को पार करके अन्य महाद्वीप की खोज का प्रस्ताव किया तो स्पेन के विश्वविद्यालय के आचार्यों तथा वहाँ के राजा ने कहा कि अगर पृथ्वी गोल है और इसके दूसरी तरफ भी भूमि है तो क्या वहाँ मनुष्य उलटे लटक कर चलते होंगे ? क्या वहाँ पेड़ों की जड़ ऊपर की तरफ और डालियाँ तथा पत्ते नीचे की तरफ होगे ?' पृथ्वी और ग्रहों की गति के सम्बन्ध में भी वहाँ ऐसे ही भ्रम फैले हुए थे। जब खगोल शास्त्री गैलीलियों ने कहा कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है और सब ग्रह सूर्य के आकर्षण से आकाश में गतिशील रहते हैं, तो उसे 'नास्तिक' कहकर जेलखाने में बन्द कर दिया, क्योंकि ये बातें उनकी धर्म पुस्तकों में लिखी हुई बातों से भिन्न प्रकार की थी। हमारे यहाँ भी इन सब बातों में अनुमान से ही काम लिया गया था, इसलिए बहुत से विषयों में भूल भी हो गई। उदाहरणार्थ पुराणों में कहीं यह भी लिखा है कि चन्द्रमा सूर्य से ऊपर है, पर 'लिंग पुराण' में स्पष्ट कहा गया है कि चन्द्रमा की उत्पत्ति सूर्य से ही है।

चन्द्र ऋक्षग्रहा: सर्वे विज्ञेया सूर्य संभवा।

अर्थात्—चन्द्रमा, नक्षत्र और ग्रह सब सूर्य से ही उत्पन्न हुए हैं।'

इसके पश्चात् सूर्य के महत्व को दर्शाते हुए कहा है—'यह सूर्य ही तीनों लोकों के स्वामी मूलाधार और पर दैवत है। इसी से सब कुछ उत्पन्न होता है और इसी से विलीन हो जाता है। लोगों के भाव

और अभाव (अस्तित्व और नष्ट होना) पहले सूर्य से ही निकले थे। सूर्य से क्षण, मुहूर्त, दिवस, निशा, पक्ष, मास, सम्बत्सर, ऋतु और युग उत्पन्न होते हैं और इसी में लय हुआ करते हैं। इस प्रकार सूर्य को छोड़कर अन्य किसी भी प्रकार से काल की संख्या ही नहीं होती है। काल के बिना कोई नियम भी नहीं हो सकता। ऋतुओं का विभाग पुष्प, फल, मूल इसके बिना कैसे होंगे ? सूर्य देव के बिना अनाज की उत्पत्ति, घास और जड़ी-बूटियां भी कैसी होंगी ? इसके बिना पृथ्वी पर और दिव्य लोक में प्राणियों के समस्त व्यवहारों का निरोध हो जायेगा। जगत में रुद्र रूप वाले, प्रतापी भगवान् भास्कर के बिना किसी की निष्पत्ति होना संभव नहीं।"

"यह चर और अचर से संयुक्त त्रैलोक्य सूर्य से ही तपता है। यह ही तेजों का समूह है, जो सार्वलौकिक है। यही इस जगत को ऊपर, नीचे और बगल से तपता है। जिस प्रकार प्रभा करने वाला दीपक घर के मध्य में रखा हुआ चारों तरफ अन्धकार को नाश करता है, उसी प्रकार यह सहस्रों किरणों वाला, ग्रहों का राजा और जगत का पति सूर्य भी अपनी किरणों द्वारा सम्पूर्ण जगत को सभी छोर से आलोकित किया करता है।"

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सूर्य को ही जगत का कारण बतलाया है। उसने बिना इस पृथ्वी पर किसी भी प्राणी का अस्तित्व रहना सम्भव नहीं। इतना ही नहीं वैज्ञानिक यह भी बतलाते हैं कि पृथ्वी पर जितनी भली-बुरी घटनायें सदैव होती रहती हैं, उनमें भी सूर्य का प्रभाव बहुत कुछ काम करता है। युद्ध, शान्ति, जातीय विग्रह, उद्योगों की वृद्धि कृषि-जन्य पदार्थों की उद्यमता आदि सबका आधार सूर्य से विकरण होने वाली विभिन्न किरणों पर सिद्ध किया गया है। 'लिंग पुराण' में भी प्रत्येक मास के सूर्य का पृथक नाम दिया गया है, और उसकी किरणों के विशेष गुण और प्रभाव बतलाये गये हैं।

साम्प्रदायिक सद्भावना–

"लिग पुराण" में कई स्थानों पर नग्न-साधुओं की चर्चा और उनकी प्रशंसा पाई जाती है। एक अध्याय में जल को छान कर पीने का अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्णन किया गया है। 'शिव और ऋषियों के सम्वाद' में कहा गया है—

न निन्देद्यतिन तस्माद्दिग्वाशा समनुत्तमम् ।
बालोन्मत्तविचेष्टं तु मत्परं ब्रह्मवादिनम् ॥

अर्थात् "इसलिए जो साधु दिशाओं के ही वस्त्र पहिनने वाले (दिगम्बर अथवा नग्न) हैं, सर्वोत्तम हैं, उनकी निन्दा न करनी चाहिए। क्योंकि वे बालक और उन्मत्त की भाँति चेष्टा रहित होकर मुझ में परायण और ब्रह्मवादी होते हैं।"

फिर आगे चलकर और भी कहा है—

नग्ना एव हि जायते देवता मुनयस्तथा ।
ये चान्ये मानवा लोके सर्वे जयत्यवाससः ॥
इन्द्रियैरजितैर्नग्नो दुकूलेनापि सवृत ।
तैरेव सवृतैर्गुप्तो न वस्त्र कारणम् स्मृतम् ॥

अर्थात्—"देवता, मुनिगण तथा मनुष्य आरम्भ में सभी नग्न हो उत्पन्न हुआ करते हैं। पर वास्तव में नग्न वह है, जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, चाहे वह वस्त्र धारण किये हुए हो क्यों न हो। इन्द्रियों को जीत लेने वाला ही 'गुप्त' माना जायेगा। इसमें वस्त्र पहिनने से कोई प्रभाव नहीं पड़ता।"

अन्य पुराणों में भी नग्न साधुओं का वर्णन किया गया है, यद्यपि उसमें उनकी निन्दा का भाव ही पाया है। 'विष्णु पुराण' (३—१८) में बताया गया है कि जब देवगण दैत्यों से हार गये तो

विष्णु भगवान् ने अपनी देह से 'माया मोह' को उत्पन्न करके उसे दैत्यों को धर्म-भ्रष्ट करने के लिए भेजा। उसका वर्णन करते हुए कहा गया है—

ततो दिगम्बरो मुण्डो र्वाहिपिच्छधरो द्विज।
मायामोहोऽसुरान् श्लक्ष्णदि वचनमप्रवीत्॥
अर्हतैतं महाधर्म मायामोहेनते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिया धर्मर्हतास्तेन तेऽसवन्॥

अर्थात्—'तब उस दिगम्बर, मुण्डित शिर वाले, भूमि को स्वच्छ करने की 'पिच्छी' लिए हुए 'माया मोह ने उन असुरों से अत्यन्त मीठे वचनों में कहा—यह अर्हत का धर्म 'महाधर्म' है, इसी का आदर करो। तब वे दैत्य उस धर्म के अनुयायी बन 'अर्हत' कहे जाने लगे।''

अन्य पुराणों में भी 'श्वेत' (जैन) मुनियों के विषय में इसी से मिलती-जुलती कथाएँ लिखी हैं और प्रकारान्तर से उनकी निन्दा की है। पर 'लिंग पुराण' में किसी विशेष सम्प्रदाय का नाम न लेकर नग्न साधुओं और जल को छान कर पीने का जिस ढङ्ग से समर्थन किया गया है, उससे उसका सद्भाव ही प्रकट होता है—

चक्षुपूत चरेन्मार्ग वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतं वदेद्वाक्यं मनः पूतं समाचरेत्॥

अर्थात्—मार्ग में आँखों से भली भाँति देखकर ही चलना चाहिए, जल को सदा वस्त्र से छान कर पीना चाहिए, सचाई के साथ पवित्र वचन बोलने चाहिए, शुद्ध मन से विचार कर आचरण करना चाहिए।

यह तो नीति का एक उत्तम उपदेश हो गया। पर इसके आगे दिये गये श्लोक से प्रकट होता है कि पुराणकार का विशेष और छने हुए जल का व्यवहार करने पर ही है—

मत्स्य गृहस्य यत्पापं षण्मासऽभ्यंतर भवेत् ।
एकाहं तत्सम ज्ञेयमपूतं यज्जलं भवेत् ।।

अर्थात्—"मत्स्यों के पकड़ने वाले को जितना पाप छः मास में होता है, उतना पाप एक दिन वस्त्र से पवित्र नहीं किये हुए जल के पीने से होता है।"

जल को छान कर व्यवहार में लाने पर सबसे अधिक बल जैनमत में ही दिया गया है और नग्न रहकर आत्मध्यान में लोग रहने वाले साधुओं का महत्त्व भी उन्हीं में सर्वाधिक है। इसलिए, आलोचकों का यह अनुमान न्यूनाधिकार परिमाण से ठीक हो सकता है कि 'लिंग पुराण' में ऐसे विचारों का समावेश शैवों से सद्‌भाव रखने वाले किन्हीं जैन-साधु के सम्पर्क से हुआ हो। यदि यह कारण न भी हो तो भी अन्य सम्प्रदाय के प्रति आदर की भावना रखना पुराणकार की सदाशयता और उच्चता को ही प्रमाणित करता है। सच्चे धार्मिक व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय या मत के क्यों न होगे दूसरे धर्म या सम्प्रदाय पर आक्षेप करना कभी पसन्द नहीं करते। दूसरे धर्मों के प्रति आदर और सहिष्णुता की भावना रखना श्रेष्ठता और उच्चता का लक्षण है भगवान विष्णु और वैष्णवों के प्रति भी 'लिंग पुराण' में सदाशयता का काफी परिचय दिया गया है और कहीं भी उनके प्रति किसी प्रकार का अभद्रता सूचक शब्द प्रयोग में नही लाया गया है, जैसा कि अन्य पुराणों में कहीं-कहीं देखने में आता है।

ज्ञान की प्रधानता–

सांसारिक कष्टों की निवृत्ति का मुख्य मार्ग 'लिंग पुराण' में ध्यान में बतलाया गया है। यहां अधिकांश प्राणी विविध प्रकार की

कामनाओं के पीछे दौड़ते हुए कष्ट पाया करते हैं। यह एक ऐसा कारण भगवान् ने उत्पन्न कर दिया है कि जिसके फन्दे से मनुष्य कभी छुटकारा नही पाते। जैसा 'गीता' में कहा गया है कि विषयों की कामना करने से आसक्ति पैदा होती है, उसकी पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है, फिर क्रोध से अविवेक और अन्त में नाश होता है। इसी प्रकार 'लिंग पुराण' के कर्ता ने कामनाओं के कारण ही मानव-जीवन को दुःखी बताया है। उसके फल स्वरूप क्रोध, हर्ष, लोभ, मोह, दम्भ, धर्म और अधर्म उत्पन्न हुआ करते हैं। इन सबका संग्रह इस मानव-मन और देह में हुआ करता है और यही सब लोगों के क्लेशों का कारण होता है।'

बुद्धिमान व्यक्ति को इस 'अविद्या' को त्याग कर 'विद्या' का अवलम्बन करना चाहिए। योगी पुरुष ऐसा ही करते हैं और इस प्रकार क्रोधादि तथा धर्माधर्म से छुटकारा पा जाते हैं। ऐसा पुरुष तीनों दुःखों से मुक्त होकर परम गति का अधिकारी बना करता है। इस प्रकार के ज्ञान के विना ध्याता का ध्यान नहीं हो सकता। यहाँ 'लिंग पुराण' के कर्त्ता ने स्पष्टतः 'गीता' के ही कथन को उद्‌भुत कर दिया है, 'गीता' में कहा है—

यथधांसि समिद्धोऽग्नि भस्मासात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते

(गीता ४-३७-३८)

अर्थात् जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि इस प्रकार के कर्मों को भस्म कर डालती है। इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला और कुछ भी नहीं हैं।' इसी बात को शब्दों के किञ्चित परिवर्तन के साथ 'लिंग पुराण' के 'ध्यान यज्ञ माहत्म्य वर्णन' अध्याय में भी कहा गया है—

ज्ञानाग्निदहते क्षिप्र शुष्केन्धनामिवानलः।
ज्ञानात्परतरं नारित सर्वपाप विनाशनम्॥

अर्थात्—"सब पापों को ज्ञान रूपी अग्नि सूखे ईंधन की तरह शीघ्र ही जला डालती है। ज्ञान से बढ़कर सब प्रकार के पापों को नष्ट करने वाले और कुछ भी नहीं है।" इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आगे कहा गया है—

"ज्ञान के अभ्यास से मनुष्यों की बुद्धि निर्मल हो जाया करती है। इसलिए सदा ज्ञान में निष्ठा रखते हुए और तत्परायण होकर उसका अभ्यास करना चाहिए। जो 'योगी' ज्ञान से तृप्त हो जाता है और आसक्ति का त्याग कर देता है उसको फिर भी कुछ 'कर्तव्य' नहीं रह जाता। यदि कुछ कर्तव्य शेष रह जाता है तो समझ लो कि वह तत्व वेत्ता नहीं है। जिसे ऐसा ज्ञान हो जाता है वही ब्रह्मवेत्ता होकर जीवन्मुक्त बन जाता है। जो अभी वर्णाश्रम धर्म में संलग्न है उसे सांसारिक बन्धन तथा क्रोध को त्यागकर इस ज्ञान को प्राप्त करना चाहिए तभी वह मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। मोक्ष का हेतु ज्ञान ही होता है और ऐसा व्यक्ति अपनी आत्मा में ही स्थित रहता है।"

इस प्रकार का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है इसके लिए 'लिंग पुराण' में योग-मार्ग का उपदेश दिया गया है कि "जैसा ज्ञान होता है वैसा ही ध्यान भी होता हैं, इसलिए ध्यान का अभ्यास करें। ध्यान 'निर्विषय' होता है, पर आरम्भ में 'सविषय' ध्यान ही करना पड़ता है। जब ध्यान परिपक्व हो जाता है, तब ध्यान करने वाले को और किसी का ध्यान ही नहीं रहता। ध्यान की स्थिति में योगी न कुछ देखता हैं, न सूँघता है और न कुछ सुनता ही है। वह तो स्वयं अपनी आत्मा में ही लीन रहता है।" गीता में भी ध्यान-योग का ऐसा ही माहात्म्य बताया गया है—

योगी युञ्जीत सततमात्मान रहसि स्थितः।
एकाकीं यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्तो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

प्रशान्तमनस ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।।

(गीता ६–१०, १६, २७)

अर्थात्—"योगी एकान्त में अकेला रहकर चित्त और आत्मा का संयम करे, किसी भी वासना को न रखकर, परिग्रह छोड़कर निरन्तर अभ्यास में लगा रहे । जब मन चंचल होकर जहाँ-जहाँ जावे, वहाँ-वहाँ से उसे रोक कर आत्म-ध्यान में लगावे । इस प्रकार शान्त-चित्त, रज (सांसारिकता) से रहित, निष्पाप और ब्रह्मभूत योगी उत्तम सुख को प्राप्त होते है ।"

इस प्रकार लिंग पुराण' में 'गीता' के ही आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन पाया जाता है जिसे भारत ही नहीं विदेशों के भी हजारों विद्वानों में आत्मज्ञान का सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाया है । यदि कोई अन्तर है तो यही कि गीता में अन्तिम निष्कर्ष यह निकाला गया है कि कैसा भी ब्रह्मज्ञानी और जीवन्मुक्त हो जाने पर भी मनुष्य को सांसारिक कर्तव्यों का त्याग नहीं करना चाहिए । वरन् 'लोक-शिक्षण' की दृष्टि से इनको निष्काम भाव से करते रहना ही हितकारी है । 'लिंग पुराण' में इसके बजाय 'ब्रह्मज्ञानी' के लिए संसार त्यागी होकर सब प्रकार के कर्तव्यों से पृथक हो जाना ही मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग को बताया गया है। पर इसमें कोई नवीनता नहीं है । हिन्दू धर्म-शास्त्रों में सर्वत्र प्रवृत्ति और 'निवृत्ति दोनों मार्गों' का प्रतिपादन पाया जाता है, और ये दोनों ही आवश्यक हैं । 'प्रवृत्ति' मार्ग को स्वीकार किये बिना व्यक्ति और समाज का अस्तित्व स्थिर नहीं रह सकता, और 'निवृत्ति' मार्ग के बिना जन साधारण को त्याग और परमार्थ का कोई उपयुक्त आदर्श नहीं मिल सकता । 'गीताकार' ने 'प्रवृत्ति और निवृत्ति' का समन्वय करके 'निष्काम कर्म' का एक नया और उच्च मार्ग अवश्य निकाला है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि थोड़े से विशेष व्यक्तियों को छोड़ कर उसका पालन करना और भी कठिन है । 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति' वालों

की सच्चाई की पहिचान तो फिर भी सम्भव है, पर 'निष्काम कर्म' की वास्तविकता को जान सकना योगियों के लिए भी गहन' (कठिन) है।

पाँच प्रकार के योग मार्ग–

त्र्यम्बक साधना, योग मार्ग द्वारा कैसे की जाय ? यह प्रश्न उठने पर उसके पाँच तरह के विधान बतलाये गये है—(१) मन्त्र-योग, (२) स्पर्श-योग (३) भाव-योग (४) अभाव योग (५) महायोग।

"जिसमें ध्यान से युक्त मन्त्र-जप किया जाता है वह 'मन्त्रयोग' है। जिसमें रेचक आदि क्रियाओं द्वारा विशेष रूप से सुषुम्ना नाड़ी की शुद्धि कीं जाती है, योगाभ्यास द्वारा वायु को जय किया जाता है तथा 'वज्रोली आदि साधनों से बल को स्थिर रखने की क्रिया की जाती है, जो धारणा आदि अङ्गों से युक्त है और जो कुम्भक में निर्मलता करने वाला है, वह स्पर्श योग है। जब साधक यौगिक क्रियाओं के साधन को त्याग कर केवल भगवान् शिव का आश्रय ग्रहण कर लेता है और मन में उड़ने वाले समस्त बाह्य और अन्तरंग भावों का संहार करके चित्त को पूर्ण रूप से शुद्ध कर लेता है, वह 'भाव-योग' कहा जाता है। 'अभाव-योग में इस सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत को सर्वथा शून्य, निराभास, भेदाभेद से रहित चिन्तन किया जाता है। इसके द्वारा संसार के बिभिन्न पदार्थ दृष्टि से विलीन हो जाते हैं। और साधक निर्वाण का पथिक बन जाता है।

ये योग-मार्ग प्राचीनकाल से प्रचलित हैं और इनके द्वारा साधक अपनी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों की इच्छानुसार वृद्धि कर सकते है। मन्त्र-योग में विशेष रूप से ध्यान द्वारा चित्र वृत्तियों को सब तरह से खींच कर एक ही केन्द्र पर लगाना होता है। जिस प्रकार आतशी शीशे द्वारा सूर्य की किरणों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देने से कपड़ा काष्ठ आदि में आग लग जाती है उसी प्रकार चित्त वृत्तियों के किसी भी लक्ष्य पर एकाग्र कर देने से शीघ्र ही उसकी पूर्ति हो जाती है।

'स्पर्श-योग' का आशय अष्टाङ्ग योग से ही होता है जिसका विस्तार पूर्वक वर्णन इसी पुराण में अन्यत्र किया गया है। इसमें इतनी विशेषता है कि प्रत्येक साधन में भगवान् शिव का ध्यान भी करते रहा जाय। इससे योग सिद्धि अपेक्षाकृत शीघ्र होगी, क्योंकि शिवजी योग विद्या के सर्व प्रथम प्रवर्तक और आदि गुरु माने जाते हैं। आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि योग के सभी अङ्ग मनुष्य के शरीर और मन पर अद्‌भुत प्रभाव डालने वाले हैं। इनके द्वारा साधक अपने समस्त अंगों और इन्द्रियों को जितना चाहे सक्रिय बना सकता है। इस प्रकार जो शक्ति प्राप्त होती है उसका उपयोग अगर सांसारिक लोगों के लिए किया जाय तो अपना और दूसरों का भी बहुत कुछ उपकार किया जा सकता है और यदि उसे केवल परमार्थ मार्ग पर प्रयुक्त किया जाय तो उससे मुक्ति को प्राप्त करना सर्वथा सम्भव होता है।

'भाव-योग' का उद्‌देश्य योग सम्बन्धी शारीरिक अभ्यासों को छोड़कर केवल मन के द्वारा भगवान शिव में अपनी चित्त वृत्तियों को केन्द्रित करना और सांसारिक विषयों के विचारों को दिन-प्रतिदिन कम करते जाना है। जिस प्रकार 'हठयोग' को क्रिया-प्रधान और राजयोग को विचार-प्रधान कहा जा सकता है, वैसा ही अन्तर स्पर्श-योग और भाव-योग में भी समझ सकते है। भाव-योग में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि का अभ्यास न करके केवल साकर शिव भगवान का आश्रय ग्रहण करने से चित्त शुद्ध हो जाता है और आध्यात्मिक दृष्टि से साधक बड़ी उच्च पदवी को प्राप्त कर लेता है। इसकी तुलना भक्ति-योग से भी की जा सकती हैं जिसमें किसी भी क्रिया की तरफ साधक का ध्यान नहीं जाता, वरन् अपने इष्टदेव की भावना करते-करते ही वह उससे तादात्म्य प्राप्त करके उसी के समान 'शक्ति पुञ्ज, बन जाता है।

अभाव-योग' को हम ज्ञान योग भी कह सकते हैं। यह परम-हंसों और अवधूतों का मार्ग है। संसार को सब प्रकार से शून्य समझना

और उसके सब पदार्थों को मिथ्या मानना तभी सार्थक हो सकता है जब मनुष्य धर्म-शास्त्रों में परमहंसों तथा अवधूतों के लिए बताये गये, सर्वथा त्यागमय मार्ग पर चले और अपने शरीर को मृत-शव की तरह मानकर उसके रहने अथवा नष्ट होने की जरा भी चिन्ता न करें ; क्योंकि यदि मुख से तो संसार को 'प्रपञ्च, माया' मिथ्या कहा जाय पर अपने निर्वाह अथवा शारीरिक सुख के लिए उद्योग किया जाय, भिक्षा माँगी जाय तो वह कोरा ढोंग रह जाता है । इसलिए अभाव योग केवल उनके ही लिए उपयुक्त है तो संसार के मिथ्या होने के सिद्धान्त को हार्दिक रूप से मान चुके हों और उसके अनुसार आचरण करने की सामर्थ्य भी रखते हों ।

'महा-योग' इन सभी योग मार्गों का समन्वित कल्याणकारी रूप है । इसमें क्रिया ज्ञान, चित्तशुद्धि, भक्ति आदि सभी आध्यात्मिक तत्व उचित अनुपात में सम्मिलित रहते हैं, क्योंकि केवल एक मार्ग को ग्रहण करके विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाना हर एक के लिए सम्भव नहीं है । वह लाखों में किसी एक साधक के लिए ही यथार्थ माना जा सकता है, जो अपने को उसमें पूरी तरह तल्लीन कर सके । अन्यथा जो व्यक्ति एक-एक योग अंग की सीढ़ी पर कदम रखता हुआ अग्रसर होगा, वह सामान्य शक्ति और बुद्धि वाला होने पर भी सर्वोच्च स्थान पर पहुँच जायेगा । यह मार्ग वैसा ही हैं जैसे कोई भी सामान्य बुद्धि का बालक की यदि प्रायमारी स्कूल से आरम्भ करके नियमित रूप से प्रत्येक दर्जे की पढ़ाई पूरी करता जाय तो एक दिन एम. ए. की अन्तिम डिग्री भी बिना विशेष कठिनाई के प्राप्त कर लेता है, जब कि उससे कहीं अधिक तीक्ष्ण बुद्धि वाले, पर अनियमित छात्र बीच में ही रुक जाते हैं । इस प्रकार महायोग के साधक को अपना लक्ष्य भगवान शिव का सायुज्य प्राप्त करना रखकर आध्यात्मिक प्रगति की विभिन्न कक्षाओं को अभ्यास द्वारा उत्तीर्ण करना चाहिए । ऐसा करने से वे अन्तिम लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर सकेंगे ।

'याग' का अर्थ आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन बताया गया है। जीवात्मा यद्यपि परमात्मा का ही अंश है पर वह अल्प शक्ति वाला है, जब कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है। यदि योग-मार्ग के अभ्यासों द्वारा जीवात्मा की शक्ति को बढ़ाया जाये और उसे अपने स्वरूप का ज्ञान कराया जाये तो वह क्रमशः अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता हुआ ईश्वरीय-स्तर के निकट पहुँच जाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ साधकों को 'जीवन्मुक्त कहा जाता है। फिर वे संसार में रहते हुए, उनके सब कार्यों को करते हुए भी वास्तव में उसमें लिप्त नहीं होते। इसका कारण उन पर सांसारिक सुख-दुख, हानि-लाभ, सफलता-असफलता, जीवन-मरण का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता और अपने अन्तरग में वे सदा पूर्ण सन्तुष्ट, आनन्दित और अभय रहते है। यही महायोग का सार है।

\+ \+ \+

पौराणिक दृष्टि से लिंग पुराण' कई पुराणों से अधिक शिक्षाप्रद और सदुपदेश पूर्ण है, चाहे कथा भाव के अधिक न होने से साधारण जनता का उसका परिचय अपेक्षाकृत कम हो। उसका कथा-भोग अधिकाँश में शिव पुराण और वायु पुराण से मिलता-जुलता है, इसलिए हमने इस सुलभ-संस्करण में उसको कम करके यथा-शक्ति शैव-सिद्धान्तों को संकलित करने की चेष्टा की है। इससे पाठकों को भगवान शिव के निराकार और साकार दोनों रूपों का परिचय प्राप्त होगा और वे उनकी उपासना तथा भक्ति में अग्रसर होकर आत्म-कल्याण के भागी होंगे।

———